हिन्दी जैन-काव्य में योगसाधना और रहस्यवाद

✫ डा० श्रीमती पुष्पलता जैन
एम. ए., (हिन्दी, भाषा विज्ञान) पी-एच. डी. नागपुर

व्यक्ति का विशुद्धतम साध्य सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हुआ करता है। इस साध्य की प्राप्ति के लिए वह अपने कर्मों की निर्जरा करने का सतत प्रयत्न करता है। प्रयत्न का यही रूप योगसाधना है और उसका भावात्मक पक्ष रहस्यभावना है। यहाँ हम रहस्यभावना अथवा रहस्यवाद पर चर्चा नहीं करेंगे।[1] मात्र इतना कहना चाहेंगे कि अध्यात्मवाद की चरम अवस्था को प्राप्त करने वाला साधक रहस्यभावना के मिथ्यात्व, मोह-माया आदि तत्त्वों को समूल नष्ट करने का अथक प्रयत्न करता है।

रहस्यभावना के बाधक तत्त्वों को दूर कर साधक, साधक-तत्त्वों को प्राप्त करने में जुट जाता है और उनमें रमण करते हुए एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब उसके मन में संसार से वितृष्णा और वैराग्य का भाव जाग्रत हो जाता है। फलतः वह सद्गुरु की प्रेरणा से आत्मा की विशुद्धावस्था में पहुँच जाता है। इस अवस्था में साधक की आत्मा, परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए आतुर हो उठती है और उस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के लिए वह रूपक, आध्यात्मिक विवाह, आध्यात्मिक होली, फागु आदि साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन खोज लेती है। मध्यकालीन हिन्दी जैन-काव्यों में इन विधाओं का पर्याप्त उपयोग हुआ है। उनमें साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार की रहस्य साधनाओं के दर्शन होते हैं। साधना की चिरन्तनता, मार्मिकता, संवेदनशीलता, स्वसंवेदनता, भेद-विज्ञान आदि तत्त्वों ने साधक को निरंजन, निराकार, परमवीतराग आदि रूपों में पगे हुए साध्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया है और चिदानन्द, चैतन्यमय, ब्रह्मानन्द रस का खूब पान कराया है। साथ ही परमात्मा को अलख, अगम, निराकार, अध्यात्म-गम्य, परब्रह्म, ज्ञानमय, चिद्रूप, निरन्जन, अनक्षर, अशरीरी, गुरु गुसाईं, अगूढ़ आदि शब्दों का प्रयोग कर उसे रहस्यमय बना दिया है।[2] दाम्पत्यमूलक प्रेम का भी सरस प्रवाह उसकी अभिव्यक्ति के निर्झर से झरता हुआ दिखाई देता है। इन सब तत्त्वों के मिलने से जैन-साधकों का रहस्य परमरहस्य बन जाता है।

प्रस्तुत निबन्ध में हमने साधनात्मक पक्ष में सहज-योग साधना और भावनात्मक पक्ष में दाम्पत्यमूलक आध्यात्मिक प्रेम, विवाहलो, होली, फागु आदि का उल्लेख किया है। इन दोनों ही प्रकारों से साधक अपने परम रहस्य को प्राप्त करता है।

योग-साधना भारतीय साधनाओं का अभिन्न अंग है। इसमें साधारणतः मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया का समावेश किया गया है। उत्तरकाल में यह परम्परा हठयोग की प्रस्थापना में मूलकारण रही। इसमें सूर्य और चन्द्र के योग से श्वासोच्छ्वास का निरोध किया जाता है अथवा सूर्य (इड़ा नाड़ी) और चन्द्र (पिंगला) को रोककर सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु का संचार किया जाता है। उत्तरकालीन वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों में हठयोग साधना का बहुत प्रचार हुआ। जैन साधना में मुनि योगीन्दु[3], मुनि रामसिंह और सन्त आनन्दघन में इसके प्रारम्भिक तत्त्व अवश्य मिलते हैं।[4] पर उसका वह वीभत्स रूप नहीं मिलता जो उत्तरकालीन वैदिक अथवा बौद्ध सम्प्रदाय में मिलता रहा है। जैन-साधना का हठयोग जैनधर्म के मूल भाव से पतित नहीं हो सका। उसे जैनाचार्यों ने अपने रंग में रंगकर अन्तर्भूत कर लिया। योग-साधना सम्बन्धी प्रचुर साहित्य भी जैन साधकों ने लिखा है। उसमें योग दृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशति, योग-शास्त्र आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग का तात्पर्य है यम-नियम का पालन करना। यम का अर्थ है इन्द्रियों का निग्रह और नियम का अर्थ है महाव्रतों का पालन। पंचेन्द्रियों के निग्रह के साथ ही 'अन्तर्विजय' का विशेष महत्त्व है। उसे ही सत्यब्रह्म का दर्शन माना जाता है—"अन्तर विजय सूरता सांची, सत्यब्रह्म दर्शन निरवाची।"[५] इसी से योगी के मन की परख की जाती है।[६] ऐसा ही योगी धर्मध्यान और शुक्लध्यान को पा जाता है। दौलतराम ने ऐसे ही योगी के लिए कहा है—

"ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै, सो फेर न भव में आवै।"[७]

बनारसीदास का चिन्तामणि योगी आत्मा सत्यरूप है जो त्रिलोक का शोक हरण करने वाला है और सूर्य के समान उद्योतकारी है।[८] कवि द्यानतराय को उज्ज्वल दर्पण के समान निरंजन आत्मा का उद्योत दिखाई देता है। वही निर्विकल्प शुद्धात्मा चिदानन्दरूप परमात्मा है जो सहज-साधना के द्वारा प्राप्त हुआ है इसीलिए कवि कह उठता है—"देखो भाई आतमराम विराजे।[९] साधक अवस्था के प्राप्त करने के बाद साधक के मन में दृढ़ता आ जाती है और वह कह उठता है—

"अब हम अमर भये न मरेंगे।[१०]

शुद्धात्मावस्था की प्राप्ति में समरसता और तज्जन्य अनुभूति का आनन्द जैनेतर कवियों की तरह जैन कवियों ने भी लिया है। उसकी प्राप्ति में सर्वप्रथम द्विविधा का अन्त होना चाहिए जिसे बनारसीदास और भैया भगवतीदास ने दूर करने की बात कही है। आनन्दतिलक की आत्मा समरस में रंग गई —

"समरस भावे रंगिया अप्पा देखई सोई,
अप्पउ जाणइ परहणई आणंद करई णिरालंव होई।[११]

यशोविजय ने भी उनका साथ दिया।[१२] बनारसीदास को वह कामधेनु चित्रावेलि और पंचामृत भोजन जैसा लगा।[१३] उन्होंने ऐसी ही आत्मा को समरसी कहा है जो नय पक्षों को छोड़कर समतारस ग्रहण करके आतमस्वरूप की एकता को नहीं छोड़ती और अनुभव के अभ्यास से पूर्ण आनन्द में लीन हो जाती है।[१४] ये समरसी सांसारिक पदार्थों की चाह से मुक्त रहते हैं—"जो समरसी सदैव तिनकौं कछू न चाहिए।[१५] ऐसा समरसी ब्रह्म ही परम महारस का स्वाद चख पाता है। उसमें ब्रह्म, जाति, वर्ण, लिंग, रूप आदि का भेद अब नहीं रहता। भूधरदास जी को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के बाद कैसी आत्मानुभूति हुई और कैसा समरस रूपी जल झरने लगा, यह उल्लेखनीय है—

"अब मेरे समकित सावन आयो॥
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो॥
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
बोलैं विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो॥
मूल धूल कहि मूल न सूझत, समरस जल झर लायो।
भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो॥[१६]

आनन्दघन पर हठयोग की जिस साधना का किंचित् प्रभाव दिखाई देता है वह उत्तरकालीन अन्य जैनाचार्यों में नहीं मिलता—

"आतम अनुभव रसिक को, अजब सुन्यो बिरतंत।
निर्वेदी वेदन करै, वेदन करै अनन्त॥
माहारो बालुड़ो सन्यासी, देह देवल मठवासी।
इड़ा-पिंगला मारग तजि जोगी, सुषमना घरबासी॥
ब्रह्मरंध्र मधि सांलन पूरी, बाऊ अनहद नाद बजासी।
यम नीयम आसन जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी॥
प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी।
मूल उत्तर गुण मुद्राधारी, पर्यंकासन वासी॥[१७]

द्यानतराय ने उसे गूंगे का गुड़ माना।[१८] इस रसायन का पान करने के उपरान्त ही आत्मा निरञ्जन और परमानन्द बनता है।[१९] उसे हरि, हर ब्रह्मा भी कहा जाता है। आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति को ही दौलतराम ने "शिवपुर की डगर समरस सौ भरी, सौ विषय विरस रुचि चिरविसरी" कहा है।[२०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यकाल में जिस सहज-साधना के दर्शन होते हैं उससे हिन्दी कवि भी प्रभावित हुए हैं, पर उन्होंने उसका उपयोग आत्मा के सहज स्वाभाविक और परम विशुद्धावस्था को प्राप्त करने के अर्थ में किया है। बाह्याचार का विरोध भी इसी सन्दर्भ में किया है।[२१] जैन साधक अपने ढंग की सहज साधना द्वारा ब्रह्मपद प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे। कभी-कभी योग की चर्चा उन्होंने अवश्य की, पर हठयोग की नहीं। ब्रह्मानुभूति और तज्जन्य आनन्द की प्राप्ति का उद्घाटन करने में जैन-साधकों की उक्तियाँ अधिक जटिल और रहस्मय नहीं बनीं और न ही उनके काव्य में अधिक अस्पष्टता आ पाई। जैन काव्य में सहज शब्द मुख्य रूप से तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है—१. सहज-समाधि के रूप में २. सहज-सुख के रूप में और ३. परमतत्त्व के रूप में।[२२]

पीताम्बर ने सहज समाधि को अगम और अकथ्य कहा है। यह समाधि सरल नहीं है वह तो नेत्र और वाणी से भी अगम है उसे साधक ही जान पाते हैं—

नैनन ते अगम अगम याही बैनन तैं,
उलट पुलट बहै कालकूट कह री।
मूल बिन पाए मूढ़ कैसे जोग साधि आवें,
सहज समाधि की अगम गति गहरी ।।३४।।[२३]

बनारसीदास ने उसे निर्विकल्प और निरुपाधि अवस्था का प्रतीक माना। वही आत्मा केवलज्ञानी और परमात्मा कहलाता है।

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकल्प मेंटि,
निरविकलप ग्यान मन में धरतु है।
इन्द्रियजनित सुख-दुःख सौं विमुख ह्वै कै,
परम के रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागि पर की उपाधि,
आतम अराधि परमातम करतु है ।।[२४]

इसी को आतम समाधि कहा गया है जिसमें राग-द्वेष मोह-विरहित वीतराग अवस्था की कल्पना की गई है।

रागद्वेष मोह की दसासों भिन्न रहै यातैं,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जाल कौ विधुंस है।
निरुपाधि आतम समाधि में विराजै तातैं,
कहिए प्रगट पूरन परमहंस है ।।[२५]

जैन साधकों ने नाम सुमिरन और अजपा जाप को अपनी सहज साधना का विषय बनाया है। साधारण रूप से परमात्मा और तीर्थंकरों का नाम लेना सुमिरन है तथा माला लेकर उनके नाम का जप करना भी सुमिरन है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सुमिरन के जो तीन भेद माने हैं[२६] वे जैन साधकों ने अपनी साधना में अपनाये हैं। उन्होंने बाह्यसाधना पर चिन्तन करते हुए अन्तःसाधना पर बल दिया है। व्यवहारनय की दृष्टि से जाप करना अनुचित नहीं है पर निश्चयनय की दृष्टि से उसे बाह्य क्रिया माना है। तभी तो द्यानतरायजी ऐसे सुमिरन को महत्त्व देते हैं जिससे—

ऐसो सुमरन करिये रे भाई।
पवन थमै मन कितहु न जाई ।।
परमेसुर सौं साचौं रही जै।
लोक रंजना भय तजि दीजै ।।
यम अरु नियम दोऊ विधि धारौ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसन प्राणायाम समारो ।।
प्रत्याहार धारना कीजै ।
ध्यान समाधि महारस पीजै ।।[२७]

उसी प्रकार अनहद नाद के विषय में लिखते हैं—

अनहद सबद सदा सुन रे।
आप ही जानैं और न जानैं;
कान बिना सुनिये धुन रे।।
अमर गुंज सम होत निरन्तर,
ता अन्तर गति चितवन रे।।[२८]

इसीलिए द्यानतरायजी ने सोहं को तीन लोक का सार कहा है। जिन साधकों के श्वासोच्छ्वास के साथ सदैव ही 'सोहं सोहं' की ध्वनि होती रहती है और जो सोहं के अर्थ को समझकर, अजपा जाप की साधना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं—

सोहं सोहं होत नित, सांस उसास मझार।
ताको अरथ विचारियै, तीन लोक में सार।।
तीन लोक में सार, धार सिव खेत निवासी।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहित गुण अष्ट विलासी ।।
जैसो तैसो आप थाप, निहचै तजि सोहं।
अजपा जाप सँभार, सार सुख सोहं सोहं ।।[२९]

आनन्दघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अन्तः में अजपा जाप को जगाते हैं वे चेतन मूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं।[३०] इसीलिए सन्त आनन्दघन भी सोहं को संसार का सार मानते हैं—

चेतन ऐसा ज्ञान विचारो।
सोहं-सोहं सोहं सोहं सोहं अणु नबी या सारो।[३१]

इस अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होने पर आनन्द के मेघ की झड़ी लग जाती है और जीवात्मा सौभाग्यवती नारी के सदृश भावविभोर हो उठती है—

"उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरखत, बन मोर एकनतारी ।।[३२]

सहज योग साधनाजन्य रहस्यभावना में साधक आध्यात्मिक क्षेत्र को अधिकाधिक विशुद्ध करता है तथा ब्रह्म (परमात्मा) और आत्मा के सम्मिलन अथवा एकात्मकता की अनुभूति तथा तज्जन्य अनिर्वचनीय परम सुख का अनुभव करता है। इन्हीं साधनात्मक अभिव्यक्तियों के चित्रण में वह जब कभी अपनी साधना के सिद्धान्तों अथवा पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग करता है। इस शैली को डॉ० त्रिगुणायत ने पारिभाषिक शब्दमूलक रहस्यवाद और आध्यात्मिक रहस्यवाद कहा है।[33] इस तरह मध्यकालीन जैन साधकों की रहस्यसाधना अध्यात्ममूलक साधनात्मक रहस्यभावना की सृष्टि करती है।

भावनात्मक रहस्यभावना में साधक की आत्मा के ऊपर से जब अष्टकर्मों का आवरण हट जाता है और संसार के मायाजाल से उसकी आत्मा मुक्त होकर विशुद्धावस्था को प्राप्त कर लेती है तो उसकी भावदशा भंग हो जाती है। फलतः साधक विरह-विधुर हो तड़प उठता है। यह आध्यात्मिक विरह एक ओर तो साधक को सत्य की खोज अर्थात् परमपद की प्राप्ति की ओर प्रेरित करता है और दूसरी ओर उसे साधना में संलग्न रखता है। साधक की अन्तरात्मा विशुद्धतम होकर अपने में ही परमात्मा का रूप देखती है तब वह प्रेम और श्रद्धा की अतिरेकता के कारण उससे अपना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने लगती है। यही कारण है कि कभी साधक उसे पति के रूप में देखता है और कभी पत्नी के रूप में, क्योंकि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य रति में देखी जाती है। अतः रहस्यभावना की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और प्रिया के आश्रय में होती है।

आध्यात्मिक साधना करने वाले जैन और जैनेतर सन्तों एवं कवियों ने इसी दाम्पत्यमूलक रतिभाव का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवलम्बन परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए लिया है। आत्मा-परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण किया गया है। श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव का यह कथन इस सन्दर्भ में उपयुक्त है कि लोक में आनन्दशक्ति का सबसे अधिक स्फुरण दाम्पत्य संयोग में होता, ऐसे संयोग में जिनमें दो की पृथक् सत्ता कुछ समय के लिए एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती है। आनन्दस्वरूप विश्वसत्ता के साक्षात्कार का आनन्द इसीकारण अनायास लौकिक दाम्पत्य-प्रेम के रूपकों मे प्रकट हो जाता है।[३४] अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैधभाव ही समाप्त हो जाता है। मध्यकालीन कवियों ने आध्यात्मिक प्रेम के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विवाहों का चित्रण किया है। प्रायः इन्हें विवाहला, विवाह, विवाहलउ और विवाहलो आदि नामों से जाना जा सकता है। विवाह भी दो के मिलते हैं। रहस्यसाधकों की रहस्यभावना से जिन विवाहों का सम्बन्ध है उनमें जिनप्रभसूरि का अन्तरंग विवाह अति मनोरम है। सुमति और चेतन प्रिय-प्रेमी रूप हैं। अजयराज पाटणी ने शिवरमणी विवाह रचा जिसमें आत्मा वर (शिव) और मुक्ति वधु (रमणी) है। आत्मा मुक्तिवधु के साथ विवाह करती है।[३५]

बनारसीदास ने भगवान शांतिनाथ का शिवरमणी से परिणय रचाया। परिणय होने के पूर्व ही शिवरमणी की उत्सुकता का चित्रण देखिये, कितना अनूठा है—री सखि, आज मेरे सौभाग्य का दिन है कि जब मेरा प्रिय से विवाह होने वाला है पर दुःख यह है कि वह अभी तक नहीं आया। मेरा प्रिय सुख-कन्द है, उनका शरीर चन्द्र के समान है इसलिए मेरा मन आनन्द सागर में लहरें ले रहा है। मेरे नेत्र-चकोर-सुख का अनुभव कर रहे हैं, जग में उनकी सुहावनी ज्योति फैली है, कीर्ति भी छायी है, वह ज्योति दुःख रूप अन्धकार दूर करने वाली है, वाणी से अमृत झरता है। मुझे सौभाग्य से ऐसा पति मिल गया।[३६]

एक अन्य कृति अध्यात्मगीत में बनारसीदास को मन का प्यारा परमात्मा रूप प्रिय मिल जाता है। अतः उनकी आत्मा अपने प्रिय (परमात्मा) से मिलने के लिए उत्सुक है। वह अपने प्रिय के वियोग में ऐसी तड़प रही है जैसे जल के बिना मछली तड़पती है। मन में पति से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है तब वह अपनी समता नाम की सखी से अपने मन में उठे भावों को व्यक्त करती है, यदि मुझे प्रिय के दर्शन हो जायें तो मैं उसी तरह मग्न हो जाऊँगी जिस तरह दरिया में बूँद समा जाती है। मैं अहंभाव को तजकर प्रिय से मिल जाऊँगी। जैसे ओला गलकर पानी में मिल जाता है वैसे ही मैं अपने को प्रिय में लीन कर दूँगी।[३७] आखिरकार उसका प्रिय उसके अन्तर्मन में ही मिल गया और वह उससे मिलकर एकाकार हो गई। पहले उसके मन में जो दुविधाभाव था वह भी दूर हो गया।

दुविधाभाव का नाश होने पर उसे ज्ञान होता है कि वह और उसका प्रियतम एक ही है। कवि ने अनेक सुन्दर दृष्टान्तों से इस एकत्वभाव को अभिव्यक्त किया है। वह और उसके प्रिय, दोनों की—

"जो पिय जासि जानि सम सोइ। जानहिं जात मिलैं सब कोइ ॥१८॥
पिय मोरे घट, मैं पिय मांहि। जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥१९॥
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ॥२०॥
पिय सुख सागर मैं सुखसींव। पिय शिव मन्दिर में शिवनींव ॥२१॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ॥२२॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवलबानि ॥२३॥
जहँ पिय तहँ मैं पिय के संग। ज्यों शशि हरि में ज्योति अभंग ॥२४॥

कविवर बनारसीदास ने सुमति और चेतन के बीच अद्वैतभाव की स्थापना करते हुए रहस्यभावना की साधना की है। चेतन को देखते ही सुमति कह उठती है—रे चेतन, तुमको निहारते ही मेरे मन से परायेपन की गागर फूट गयी। दुविधा का अंचल फट गया और शर्म का भाव दूर हो गया। हे प्रिय, तुम्हारा स्मरण आते ही मैं राजपथ को छोड़कर भयावह जंगल में तुम्हें खोजने निकल पड़ी। वहाँ हमने तुम्हें देखा कि तुम शरीर की नगरी के अन्तःभाग में अनन्त शक्ति सम्पन्न होते हुए भी कर्मों के लेप में लिपटे हुए हो। अब तुम्हें मोह निद्रा को भंगकर और रागद्वेष को चूरकर परमार्थ प्राप्त करना चाहिए।

बालम तुहुँ तन चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गो फहराय सरम गै छूटि ॥ बालम ॥१॥
हूँ तिक रहूँ जे सजनी रजनी घोर।
घर करकेउ न जानै चहुदिसि चोर ॥ बालम ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिउ सुधि पावत वन में पैसिउ पेलि।
छाडउ राज डगरिया भयउ अकेलि ॥ बालम ॥३॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप ॥ बालम ॥५॥
चेतन बूझि विचार धरहु सन्तोष।
राग दोष दुइ बंधन छूटत मोष ॥ बालम ॥१३॥[३८]

साधक की आत्मारूप सुमति के पास परमात्मा स्वयं ही पहुँच जाते हैं क्योंकि वह प्रिय के विरह में बहुत क्षीणकाय हो गई थी। विरह के कारण उसकी बेचैनी तथा मिलने के लिए आतुरता बढ़ती ही गई। उसका प्रेम सच्चा था इसलिए भटका हुआ पति स्वयं वापिस आ गया। उसके आते ही सुमति के खंजन जैसे नेत्रों में खुशी छा गयी और वह अपने चपल नयनों को स्थिर करके प्रियतम के सौन्दर्य को निरखती रह गयी। मधुर गीतों की ध्वनि से प्रकृति भर गयी। अन्त: का भय और पापरूपी मल न जाने कहाँ विलीन हो गये। क्योंकि उसका परमात्मा जैसा साजन साधारण नहीं, वह तो कामदेव जैसा सुन्दर और अमृत रस जैसा मधुर है। वह अन्य बाह्य क्रियायें करने से प्राप्त नहीं होता बनारसीदास कहते हैं—वह तो समस्त कर्मों का क्षय करने से मिलता है।

म्हारे प्रगटे देव निरंजन।
अटको कहाँ कहाँ सिर भटकत कहा कहूँ जन-रंजन ॥म्हारे०॥१॥
खंजन दृग, दृग नयनन गाऊँ चाऊँ चितवत रंजन।
सजन घट अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय भंजन ॥म्हारे॥
वो ही कामदेव होय, कामघट वो ही मंजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खंजन ॥म्हारे॥[३९]

जैन साधकों एवं कवियों ने रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने के लिए राजुल और तीर्थंकर नेमिनाथ के परिणय कथानक को विशेष रूप से चुना है। राजुल आत्मा का प्रतीक है और नेमिनाथ परमात्मा का। राजुलरूप आत्मा नेमिनाथरूप परमात्मा से मिलने के लिए कितनी आतुर है यह देखते ही बनता है। यहाँ कवियों में कबीर और जायसी एवं मीरा से कहीं अधिक भावोद्वेग दिखाई देता है। संयोग और वियोग दोनों के चित्रण भी बड़े मनोहारी और सरस हैं।

भट्टारक रत्नकीर्ति की राजुल से नेमिनाथ विरक्त होकर किस प्रकार गिरिनार चले जाते हैं, यह आश्चर्य का विषय है। उन्हें तो नेमिनाथ पर तन्त्र मन्त्र मोहन का प्रभाव लगता है—"उन पे तन्त मन्त मोहन है, वेसो नेम हमारो।" सच तो यह है कि "कारण कोउ पिया को न जाने।" पिया के विरह से राजुल का संताप बढ़ता चला जाता है और एक समय आता है जब वह अपनी सखी से कहने लगती है—"सखी री नेम न जानी पीर", "सखी को मिलावो नेम नरिन्दा।"[४०]

भट्टारक कुमुदचन्द्र और अधिक भावुक दिखाई देते हैं। उनकी राजुल असह्य विरह-वेदना से सन्तप्त होकर कह उठती है—सखी री अब तो रह्यो नहीं जात।[४१] हेमविजय की राजुल भी प्रिय के वियोग में अकेली चल पड़ती है उसे भी लोक-मर्यादा का बंधन तोड़ना पड़ता है। घनघोर घटायें छायी हुई हैं, चारों तरफ बिजली चमक रही है, पिउरे, पिउरे की आवाज पपीहा कर रहा है, मोरें कंगारों पर बैठकर आवाजें कर रहीं हैं। आकाश से बूंदें टपक रही हैं, राजुल के नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है।[४२] भूधरदास की राजुल को तो चारों ओर अपने प्रिय के बिना अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है। उनके बिना उसका हृदयरूपी अरविन्द मुरझाया पड़ा है। इस वेदना का स्वर वह अपनी मां से भी व्यक्त कर देती है, सखी तो ठीक ही है "बिन पिय देखें मुरझाय रह्यो है, उर अरविन्द हमारो री।"[४३] राजुल के विरह की स्वाभाविकता वहाँ और अधिक दिखाई देती है जहाँ वह अपनी सखी से कह उठती है—"तहाँ ले चल री जहाँ जदौपति प्यारो।"[४४]

इस सन्दर्भ में "पंच सहेली गीत" का उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें छीहल ने मालिन, तम्बोलनी, छीपनी, कलालनी और सुनारिन नामक पाँच सहेलियों को पांच जीवों के रूप में व्यंजित किया है। पांचों जीव रूप सहेलियों ने अपने-अपने प्रिय (परमात्मा) का विरह वर्णन किया है। जब उन्हें ब्रह्मरूप पति की प्राप्ति नहीं हो पाती है तो वे उसके विरह से पीड़ित हो जाती हैं। कुछ दिनों के बाद प्रिय (ब्रह्म) मिल जाता है। उससे उन्हें परम आनन्द की प्राप्ति होती है। इस रूपक काव्य में बड़े सुन्दर ढंग से प्रियमिलन और विरह-जन्य पीड़ा का चित्रण है। उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रिय-मिलन ब्रह्ममिलन ही है। पति का मिलन होने पर उनकी सभी आशायें पूर्ण हो गयीं। उन्होंने पति के साथ रभस आलिंगन किया। साधक जीव जब ब्रह्म से मिलता है तो एकाकार हुए बिना नहीं रहता। इसी को परमसुख की प्राप्ति कहते हैं। ब्रह्म-मिलन का चित्रण द्रष्टव्य है—

चोली खोल तम्बोलनी काढ्या गात्र अपार।
रंग कीया बहु प्रीयसुं नयन मिलाई तार॥[४५]

भैया भगवतीदास का 'लाल' उनसे कहीं दूर चला गया इसलिए उसको पुकारते हुए वे कहते हैं लाल, तुम किसके साथ घूम रहे हो। तुम अपने ज्ञान के महल में क्यों नहीं आते। तुमने अपने अन्तर में झांककर कभी नहीं देखा कि वहाँ दया, क्षमा, समता और शांति जैसी सुन्दर नारियाँ तुम्हारे लिए खड़ी हुई हैं। वे अनुपम रूपसम्पन्न हैं।[४६]

"कहाँ कहाँ कौन संग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
नेकहु बिलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती;
कैसी कैसी नीकि नारी ठाड़ी हैं टहल में।
एक ते एक बनी, सुन्दर स्वरूप घनी,
उपमा न जाय बनी बाम की चहल में।"[४७]

आनन्दघन की आत्मा भी अपने प्रियतम के वियोग में तड़पती दिखाई देती है। इसी स्थिति में कभी वह मान करती है तो कभी उपालम्भ देती है तो कभी भक्ति के प्रवाह में बहती है, कभी प्रिय के वियोग में सुध-बुध खो देती है "पिया बिन सुधि-बुधि भूली हो।"[४८] विरह-भुजंग उसकी शैय्या को रात में खूंदता रहता है, भोजन-पान करने की तो बात ही क्या? अपनी इस दशा का वर्णन किससे कहा जाय?[४९] उसका प्रिय इतना अधिक निष्ठुर हो जाता है वह उपालम्भ दिये बिना नहीं रहती। वह कहती है कि मैं मन, वचन और कर्म से तुम्हारी हो चुकी, पर तुम्हारी यह निष्ठुरता और उपेक्षा क्यों? तुम्हारी प्रवृत्ति फूल-फूल पर मंडराने वाले भ्रमर जैसी है तो फिर हमारी प्रीति का निर्वाह कैसे हो सकता है। जो भी हो, मैं तो प्रिय से उसी प्रकार एकाकार हो चुकी हूँ जिस प्रकार पुष्प में उसकी सुगन्ध मिल जाती है। मेरी जाति भले ही निम्न कोटि की हो, पर अब तुम्हें किसी भी प्रकार के गुण-अवगुण का विचार नहीं करना चाहिए।

पिया तुम निठुर भए क्यूँ ऐसे।
मैं मन बच क्रम करी राउरी, राउरी रीति अनैसें॥
फूल फूल भंवर कैसी भाउंरी भरत हौ निबहै प्रीति क्यूं ऐसे।
मैं तो पियतें ऐसि मिली आली कुसुम वास संग जैसें॥
ओछी जात कहा पर एती, नीर न ह्वैये मैंसें।
गुन-अवगुन न विचारों आनन्दघन कीजियै तुम हो तैसे॥[५०]

आनन्दघन की आत्मा एक दिन सौभाग्यवती हो जाती है। उसे उसका प्रिय (परमात्मा) मिल जाता है। अतएव वह सोलहों शृंगार करती है। पहनी हुई झीनी साड़ी में प्रेम प्रतीति का राग झलक रहा है। भक्ति की मेहंदी लगी हुई है, शुभ भावों का सुखकारी अंजन लगा हुआ है। सहज-स्वभाव की चूड़ियाँ और स्थिरता का कंकन पहन लिया है। ध्यान की उर्वशी को हृदय में रखा और प्रिय की गुणमाला को धारण किया। सुरति के सिन्दूर से माँग संवारी, निरति की वेणी सजाई। फलतः उसके हृदय में प्रकाश की ज्योति उदित हुई। अन्तःकरण में अजपा की अनहद ध्वनि गुंजित होती है और अविरल आनन्द की सुखद वर्षा होने लगती है।

आज सुहागन नारी, अवधू आज।
मेरे नाथ आप सुध, कीनी निज अंगचारी।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे झीरी सारी।
मेंहिदी भक्ति रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी।
सहज सुभाव चुरी मैं पैन्ही, थिरता कंकन भारी।
ध्यान उरबसी उर में राखी, पिय गुनमाल अधारी।
सुरत सिन्दूर मांग रंगराती, निरतैं बैनि समारी।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन आरसी केवलकारी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरसत, बन मोर एकनतारी ॥[51]

जैनसाधकों ने एक और प्रकार के आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन किया है। साधक जब अनगार दीक्षा लेता है तब उसका दीक्षाकुमारी अथवा संयमश्री के साथ विवाह सम्पन्न होता है। आत्मारूप पति का मन शिवरमणी रूप पत्नी ने आकर्षित कर लिया—"शिवरमणी मन मोहीयो जी जेठै रहे जी लुभाय।"[52]

कवि भगवतीदास अपनी चूनरी को अपने इष्टदेव के रंग में रंगने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। उसमें आत्मारूपी सुन्दरी शिवरूप प्रीतम को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। वह सम्यक्त्व रूपी वस्त्र को धारण कर ज्ञान रूपी जल के द्वारा सभी प्रकार का मल धोकर सुन्दरी शिव से विवाह करती है। इस उपलक्ष में एक सरस ज्योंनार होती है जिसमें गणधर परोसने वाले होते हैं जिसके खाने से अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

तुम्ह जिनवर देहि रंगाइ हो, विनवइ सषी पिया शिवसुन्दरी।
अरुण अनुपम माल हो मेरी भव जल तारण चूनड़ी ॥२॥
समकित वस्त्र विसाहिले ज्ञान सलिल संग सेइ हो।
मल पचीस उतारि के दिढिपन साजी देइ जी ॥मेरी०॥३॥
बड़ ज्ञानी गणधर तहाँ भले, परोसणहार हो।
शिव सुन्दरी के ब्याह कौ, सरस भई ज्यौंणार हो ॥३०॥
मुक्ति रमणि रंग त्यौ रमैं, वसु गुण मंडित सेइ हो।
अनन्त चतुष्टय सुष धणां जन्म मरण नहि होइ हो ॥३२॥[53]

आध्यात्मिक होली

जैनसाधकों और कवियों ने आध्यात्मिक विवाह की तरह आध्यात्मिक होलियों की भी सर्जना की है। इसको फागु भी कहा गया है। यहाँ होलियों और फागों में उपयोगी पदार्थों (रंग, पिचकारी, केशर, गुलाल, विविध वाद्य आदि) को प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यंजित किया गया है। इसके पीछे आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार से सम्बद्ध आनन्दोपलब्धि करने का उद्देश्य रहा है। यह होली अथवा फाग आत्मारूपी नायक शिवसुन्दरी रूपी नायिका के साथ खेलता है। कविवर बनारसीदास ने "अध्यात्म फाग में 'अध्यातम बिन क्यों पाइये हो, परम पुरुष कौ रूप।' अघट अंग घट मिल रह्यो हो महिमा आगम अनूप।" की भावना से वसन्त को बुलाकर विविध अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से फाग खेली और होलिका का दहन किया। 'विषम विरस' दूर होते ही 'सहज वसन्त' का आगमन हुआ। 'सुरुचि-सुगंधिता' प्रगट हुई। 'मन-मधुकर' प्रसन्न हुआ। 'सुमति-कोकिला' का गान प्रारम्भ हुआ। अपूर्व वायु बहने लगी। 'भरमकुहर' दूर होने लगा। 'जड़ जाड़ा' घटने लगा। 'माया-रजनी' छोटी हो गई। 'समरस शशि' का उदय हो गया। 'मोह-पंक' की स्थिति कम हो गई। 'संशय-शिशिर' समाप्त हो गया। 'शुभ पल्लवदल', लहलहा उठे। 'अशुभ पतझर' होने लगी। 'मलिन विषयरति' दूर हो गई, 'विरति बेलि' फैलने लगी, 'शशि विवेक' निर्मल हो गया, 'थिरता अमृत' हिलोरें लेने लगा। 'शक्ति सुचन्द्रिका' फैल गई, 'नयन चकोर' प्रमुदित हो उठे, 'सुरति अग्नि ज्वाला' भभक उठी, 'समकित सूर्य', उदित हो गया, 'हृदय कमल' विकसित हुआ, 'सुयश मकरंद' प्रगट हो गया, 'दृढ़ कषाय हिमगिरि' गल गया, 'निर्जरा नदी' में धारणाधार 'शिव-सागर' की ओर बहने लगी, 'वितथ वात प्रभुता' मिट गई, 'यथार्थ कार्य' 'जाग्रत हो गया, वसन्त काल में जंगल भूमि सुहावनी लगने लगी।[54]

बसन्त ऋतु के आने के बाद अलख अमूर्त आत्मा अध्यात्म की ओर पूरी तरह से झुक गयी। कवि ने फिर यहाँ फाग और होलिका का रूपक खड़ा किया और उसके अंग-प्रत्यंगों का सामंजस्य अध्यात्म-क्षेत्र से किया। 'नय चाचरि पंक्ति' मिल गई, 'ज्ञान-ध्यान' डफताल बन गया, 'पिचकारी पद' भी साधना हुई, 'संवरभाव गुलाल' बन गया, 'शुभ भाव भक्ति तान में' 'राग विराग' अलापने लगा, 'परम रस' में लीन होकर दस प्रकार के दान देने लगा। दया की रसभरी मिठाई, तप का मेवा, शील का शीतल जल, संयम का नागर पान खाकर निर्लज्ज होकर गुप्ति-अंग प्रकट होने लगा, अकथकथा प्रारम्भ हो गई, उद्धत गुण रसिया मिलकर अमल-विमल रसप्रेम में सुरति की तरंगें हिलोरने लगीं। रहस्यभावना की पराकाष्ठा हो जाने पर परमज्योति प्रगट हुई। अष्टकर्मरूप काष्ठ जलकर होलिका की आग बुझ गई, पचासी प्रकृतियों की भस्म को भी स्नानादि करके धो दिया और स्वयं उज्ज्वल हो गया। इसके उपरान्त फाग का खेल बन्द हो जाता है, फिर तो मोह-पाश के नष्ट होने पर सहज आत्मशक्ति के साथ खेलना प्रारम्भ हो जाता है—

"नय पंकति चाचरि मिलि हो, ज्ञान ध्यान डफताल।
पिचकारी पद साधना हो, संवर भाव गुलाल ॥अध्यातम॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग विराम अलापिये हो, भावभगति शुमतान।
रीझ परम रसलीनता, दीजे दशविधि दान ॥अध्यातम॥१२॥
दया मिठाई रसभरी हो, तप मेवा परधान।
शील सलिल अति सीयलो हो, संजम नागर पान ॥अध्यातम॥१३॥
गुपति अंग परगासिये हो, यह निलज्जता रीति।
अकथकथा मुख भखिये हो, यह गारी निरनीति ॥अध्यातम॥१४॥
उद्धत गुण रसिया मिले हो, अमल विमल रसप्रेम।
सुरत तरंगमह छकि रहे हो, मनसा वाचा नेम ॥अध्यातम॥१५॥
परमज्योति परगट भई हो, लगी होलिका आग।
आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई तताई भाग ॥अध्यातम॥१६॥
प्रकृति पचासी लगि रही हो, भस्म लेख है सोय।
न्हाय धोय उज्ज्वल भये हो, फिर तहँ खेल न कोय ॥अध्यातम॥१७॥
सहज भक्ति गुण खेलिये हो चेत बनारसिदास।
सगे सखा ऐसे कहै हो, मिटे मोह दधि फास ॥अध्यातम॥१८॥[५५]

जगतराम होली खेलना चाहते हैं पर उन्हें खेलना नहीं आ रहा है—"कैसे होरी खेलौं खेलि न आवै।" क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा आदि पापों के कारण चित्त चपल हो गया। ब्रह्म ही एक ऐसा अक्षर है जिसके साथ खेलते ही मन प्रसन्न हो जाता है।[५६] उन्होंने एक अन्यत्र स्थान पर 'सुधबुध गोरी' के साथ 'सुरुचि गुलाल' लगाकर फाग भी खेली है। उनके पास 'समता जल' की पिचकारी है जिससे 'करुणा-केसर' का गुण छिटकाया है। इसके बाद अनुभव की पान-सुपारी और सरस रंग लगाया।

"सुध बुधि गोरी संग लेय कर,
सुरुचि गुलाल लगा रे तेरे।
समता जल पिचकारी
करुणा केसर गुण छिरकाय रे तेरे॥
अनुभव पानि सुपारी चरचानि।
सरस रंग लगाय रे तेरे।
राम कहे जे इत विधि पेले,
मोक्ष महल में जाय रे॥[५७]

द्यानतराय ने होली का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज वसन्तकाल में होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक दूसरे के सामने खड़े हैं। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमा-रूप नारी वर्ग खड़ा हुआ है और दूसरे दल में रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मारूप पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान रूप डफताल आदि वाद्य बजते हैं, घनघोर अनहद नाद होता है, धर्मरूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोल लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह पिचकारियाँ चलती हैं। एक ओर से प्रश्न होता है तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रश्न होता है तुम किसके लड़के हो। बाद में होली के रूप में अष्टकर्मरूप ईंधन को अनुभवरूप अग्नि में जला देते हैं और फलतः चारों ओर शान्ति हो जाती है। इसी शिवानन्द को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है।[५८]

इसी प्रकार वे चेतन से समतारूप प्राणप्रिया के साथ 'छिमा बसन्त' में होली खेलने का आग्रह करते हैं। प्रेम के पानी में करुणा की केसर घोलकर ज्ञान-ध्यान की पिचकारी से होली खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन ही मृदङ्ग हैं, निश्चय व्यवहार नय ही ताल हैं, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चोबा है, भाव ही गुलाल है जिसे अपनी झोरी में भर लेते हैं, धरम ही मिठाई है, तप ही मेवा है, समरस से आनन्दित होकर दोनों होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती हैं—

चेतन खेलै होरी॥
सत्ता भूमि छिमा बसन्त में समता प्रान प्रिया संग गोरी॥१॥
मन को माट प्रेम को पानी, तामें करुना केसर घोरी,
ज्ञान-ध्यान पिचकारी भरि भरि, आप में छारै होरा होरी॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु के वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनों डफताल टकोरी,
संजम अतर विमल व्रत चोबा, भाव गुलाल भरै भर झोरी ॥
धरम मिठाई तप बहु मेवा, समरस आनन्द अमल कटोरी,
द्यानत सुमति कहै सखियन सों, चिरजीवो यह जुग जुग जोरी ॥[५९]

इसी प्रकार कविवर भूधरदास का भी आध्यात्मिक होली का वर्णन देखिये—

"अहो दोऊ रंग भरे खेलत होरी ॥१॥
अलख अमूरति की जोरी ॥
इतमैं आतम राम रंगीले,
उतमैं सुबुद्धि किसोरी।
या कै ज्ञान सखा संग सुन्दर,
वाकै संग समता गोरी ॥२॥
सुचि मन सलिल दया रस केसरि,
उदै कलस मैं घोरी।
सुधी समझि सरल पिचकारी,
सखिय प्यारी भरि भरि छोरी ॥३॥
सतगुरु सीख तान धर पद की,
गावत होरा होरी।
पूरव बंध अबीर उड़ावत,
दान गुलाल भर झोरी ॥४॥
भूधर आज बड़े भागिन,
सुमति सुहागिन मोरी।
सो ही नारि सुलछिनी जग मैं
जासों पति नै रति जोरी ॥५॥[६०]

एक अन्य कृति में भूधरदास अभिव्यक्त करते हैं कि उसका चिदानन्द जो अभी तक संसार में भटक रहा था, घर वापिस आ गया है। यहाँ भूधर स्वयं को प्रिया मानकर और चिदानन्द को प्रीतम मानकर उसके साथ होली खेलने का निश्चय करते हैं—"होरी खेलूँगी घर आये चिदानन्द" क्योंकि मिथ्यात्व की शिशिर समाप्त हो गई, काल-लब्धि का बसन्त आया, बहुत समय से जिस अवसर की प्रतीक्षा थी, सौभाग्य से वह आ गया, प्रिय के विरह का अन्त हो गया अब उसके साथ फाग खेलना है। कवि ने यहाँ श्रद्धा को गगरी बनाया, उसमें रुचि का केशर घोला, आनन्द का जल डाला और फिर उमंग में भरकर प्रिय पर पिचकारी छोड़ी। कवि अत्यन्त प्रसन्न है कि उसकी कुमति रूप सौत का वियोग हो गया। वह चाहता है कि इसी प्रकार सुमति बनी रहे—

'होरी खेलूँगी घर आए चिदानन्द ॥
शिशिर मिथ्यात गई अब,
आई काल की लब्धि वसन्त ॥होरी॥
पीय संग खेलनि कौं,
हम सइये तरसी काल अनन्त ॥
भाग जग्यो अब फाग रचानौ
आयौ विरह को अन्त ॥
सरधा गागरि में रुचि रूपी
केसर घोरि तुरन्त ॥
आनन्द नीर उमंग पिचकारी,
छोड़ूँगी नीकी भंत ॥
आज वियोग कुमति सौतनिकों,
मेरे हरष अनन्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूधर धनि एही दिन दुर्लभ,
सुमति राखी विहसंत ॥[61]

नवलराम ने भी ऐसी ही होली खेलने का आग्रह किया है।[62] उन्होंने निज परणति रूप सुहागिन और सुमति-रूप किशोरी के साथ यह खेल खेलने के लिए कहा है। ज्ञान का जल भरकर पिचकारी छोड़ी, क्रोध-मान का अबीर उड़ाया, राग गुलाल की झोली ली, संतोषपूर्वक शुभभावों का चन्दन लिया, समता की केसर घोली आत्मा की चर्चा की 'मगनता' का त्यागकर करुणा का पान खाया और पवित्र मन से निर्मल रंग बनाकर कर्म मैल को नष्ट किया। अन्यत्र एक होली में वे पुनः कहते हैं—"ऐसे खेल होरी को खेलिरे" जिसमें कुमति ठगोरी को त्यागकर सुमति-गोरी के साथ होली खेल। आगे नवलराम यह भाव दर्शाते हैं कि उन्होंने इसी प्रकार होली खेली जिससे उन्हें शिव पैंढी का मार्ग मिल गया।

"ऐसे खेल होरी को खेलि रे ॥
कुमति ठगोरी को अब तजि करि,
तु साथ सुमति गोरी को ॥
....
नवल इसी विधि खेलत हैं,
ते पावत हैं मग शिव पौरी को ॥[63]

बुधजन भी चेतन को सुमति के साथ होली खेलने की सलाह देते हैं—"चेतन खेल सुमति संग होरी।" कषायादि को त्यागकर, समकित की केशर घोलकर, मिथ्या की शिला को चूर-चूरकर निज गुलाल की झोरी धारणकर शिव गौरी को प्राप्त करने की बात कही है।[64] कवि को विशुद्धात्मा की अनुभति होने पर वह यह भी कह देते हैं—

निजपुर में आज मची होरी।
उमँगि चिदानँदजी इत आये, इत आई सुमती गोरी।
लोक लाज कुलकानि गमाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी।
समकित केसर रंग बनायो, चारित की पिचुकी छोरी।
गावत अजपा गान मनोहर, अनहद झरसौं वरस्यो री।
देखन आये बुधजन भीगे, निरख्यौ ख्याल अनोखी री ॥[65]

आध्यात्मिक रहस्यभावना से ओतप्रोत होने पर कवि का चेतनराय उसके घर वापिस आ जाता है और फिर वह उसके साथ होली खेलने का निश्चय करता है—"अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलौंगी मैं होरी।" कुमति को दूरकर सुमति को प्राप्त करता है, निज स्वभाव के जल से हौज भरकर निजरंग की रोली घोलता है, शुद्ध पिचकारी लेकर निज मति पर छिड़कता है और अपनी अपूर्व शक्ति को पहचान लेता है—

"अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलौंगी मैं होरी।
आरस सोच कानि कुल हरिकैं, धरि धीरज वरजोरी ॥
बुरी कुमति की बात न बूझे, चितवत है मो ओरी,
वा गुरुजन की बलि-बलि जाऊँ, दूरि करी मति भोरी।
निज सुभाव जल हौज भराऊँ, घोरु निजरंग रोरी।
निज ल्यौं ल्याय शुद्ध पिचकारी, छिरकन निजमति दोरी ॥
गाय रिझाय आप वश करिकैं, जावन द्यों नहिं पोरी।
बुधजन रचि मचि रहूँ निरंतर, शक्ति अपूरब मोरी ॥सजनी ॥[66]

दौलतरामजी का मन भी ऐसी ही होली खेलता है। उन्होंने मन के मृदंग को सजाकर, तन को तंबूरा बनाकर, सुमति की सारंगी बजाकर, सम्यक्त्व का नीर भरकर, करुणा की केशर घोलकर ज्ञान की पिचकारी से पंचेन्द्रिय सखियों के साथ होली खेली। आहारादिक चतुर्दान की गुलाल लगाई, तप के मेवा को अपनी झोली में रखकर यश की अबीर उड़ाई और अन्त में भव-भव के दुःखों को दूर करने के लिए 'फगुआ शिव होरी' के मिलन की कामना करते है।[67] कवि ने इसी प्रसंग में बड़े ही सुन्दर ढंग से यह बताने का प्रयत्न किया है कि सम्यग्ज्ञानी जीव कर्मों की होली किस प्रकार खेलता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानी ऐसी होली मचाई।
राग कियो विपरीत विपन घर, कुमति कुसौति नहाई।
धार दिगम्बर कीन्ह सु संवर निज-पर भेद लखाई।
घात विषयनि की बचाई ।।ज्ञानी ऐसी०।।
सुमति सखा भजि ध्यानभेद सम, तन में तान उड़ाई।
कुम्मक ताल मृदंग सौं पूरक रेचकबीन बजाई।
लगन अनुभव सों लगाई ।।ज्ञानी ऐसी०।।
कर्म बलीता रूपनाम अरि वेद सुइन्द्रि गनाई।
वे तप अग्नि भस्म करि तिनको, धूल अघाति उड़ाई।
करी शिव तिय की मिलाई ।।ज्ञानी०।।
ज्ञान को फाग भाग वश आवै लाख करौ चतुराई।
सो गुरु दीनदयाल कृपाकरि दौलत तोहि बताई।
नहीं चित्त से विसराई ।।ज्ञानी०।।[१८]

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी के जैन कवियों द्वारा लिखित विवाह, फागु और होलियाँ अध्यात्मरस से सिक्त ऐसी दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें एक ओर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीक आदि के माध्यम से जैन दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है वहीं दूसरी ओर तत्कालीन परम्पराओं का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। दोनों के समन्वित रूप से साहित्य की छटा कुछ अनुपम-सी प्रतीत होती है। साधक की रहस्य भावनाओं की अभिव्यक्ति का यह एक सुन्दर माध्यम कहा जा सकता है। विशुद्धावस्था की प्राप्ति, चिदानन्द चैतन्यरस का पान परम सुख का अनुभव तथा रहस्य की उपलब्धि का भी परिपूर्ण ज्ञान इन विधाओं से झलकता है।

जैन साधकों की रहस्य-साधना में भक्ति, योग, सहज और प्रेमभावना का समन्वय हुआ है। इन सभी मार्गों का अवलम्बन लेकर साधक अपने परम लक्ष्य पर पहुँचा है और परम सत्य के दर्शन किये हैं। उसके और परमात्मा के बीच की खाई पट गई है। दोनों मिलकर वैसे ही एकाकार और समरस हो गये जैसे जल और तरंग। यह एकाकारता भक्त साधक के सहज स्वरूप का परिणाम है जिससे उसका भावभीना हृदय सुख-सागर में लहराता रहता है और अनिर्वचनीय आनन्द का उपभोग करता रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी जैन साहित्य के मध्यकाल में कवियों ने अध्यात्म और साधना को लोकभाषा में उतारने का अनूठा प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में वे सफल भी हुए हैं। इन रचनाओं से यह भी ज्ञात होता है कि योग-साधना के क्षेत्र में इस समय तक किन-किन नये साधनों का प्रयोग होने लगा था। इसे हम योग-साधना का विकास भी कह सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी जैन काव्यधारा का मूल्यांकन करना अपेक्षित है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१ बनारसी विलास, जिनसहस्रनाम
२ इस विषय पर विस्तार से हमारा लेख देखिए—"जैन रहस्यवाद बनाम अध्यात्मवाद"
—आनन्दऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३३०-३५३
३ दोहापाहुड, १६८.
४ योगसार, पृ० ३८४
५ पाहुडदोहा, पृ० ६
६ बनारसी विलास, प्रश्नोत्तरमाला १२, पृ० १८३
७ मनराम विलास ७२-७३, ठोलियों का दि० जैन मन्दिर, जयपुर, वेष्टन नं० ३९५
८ दौलत जैन पद संग्रह, ६५, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता,
९ बनारसी विलास, अध्यात्मपद पंक्ति, २१, पृ० २३६६
१० हिन्दी पद संग्रह, पृ० ११४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११ आणंदा ४०, आमेरशास्त्र भण्डार जयपुर की हस्तलिखित प्रति
१२ हि० जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० २०२, जसविलास
१३ नाटक समयसार, उत्थानिका १६,
१४ नाटक-समयसार, कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार २७, पृ० ८६
"एसी नयकक्ष वाकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकता सौं नहिं टले हैं।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं।।
१५ साध्य-साधकद्वार १०, पृ० ३४०
१६ अवधू नाम हमारा राखे, सोई परम महारस चाखे।
ना हम पुरुष नहीं हम नारी, बरन न भौति हमारी।
जाति न पांति न साधन साधक, ना हम लघु नहीं भारी।
ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीर्घ ना छोटा।
१७ आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३५८
१८ द्यानत विलास, कलकत्ता
१९ आणंदा, आनन्दतिलक, जयपुर आमेर शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति २,
२० दौलत जैन पद संग्रह ७३, पृ० ४०
२१ भेषधार रहे भैया भेष ही में भगवान।
भेष में न भगवान, भगवान भाव में।।' —बनारसी विलास, ज्ञानबावनी ४३, पृ० ८७
२२ अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० २४४
२३ बनारसी विलास, ज्ञान बावनी ३४, पृ० ८४
२४ नाटक समयसार, निर्जराद्वार, पृ० १४१
२५ नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, ८२, पृ० २८५
२६ (१) **जाप**—जो कि बाह्य क्रिया होती है। (२) **अजपा-जाप**—जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यंतरिक जीवन में प्रवेश करता है। (३) **अनाहद**—जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है, जहाँ पर अपने आप की पहिचान के सहारे वह सभी स्थितियों को पार कर अन्त में कारणातीत हो जाता है।
२७ हिन्दी पद संग्रह, पृ० ११६
२८ वही, पृ० ११८; आओ सहज वसन्त खेलैं सब होरी होरा।।
अनहद शब्द होत घनघोरा।। —वही, पृ० ११९-२०
२९ धर्म विलास, पृ० ६५; सोहं सोहं नित जपै, पूजा आगमसार।
सत्संगत में बैठना, यही करै व्योहार।। —अध्यात्म पंचासिका दोहा, ४९
३० आसा मारि आसनधरि घट में, अजपा जाप जगावै।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै।।७।। —आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३५९
३१ आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३६५; अपभ्रंश और हिन्दी जैन रहस्यवाद, पृ० २५५
३२ वही, पृ० ३६५
३३ कबीर की विचारधारा— डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० २२६-२२८
३४ कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० ३७२
३५ शिवरमणी विवाह, १६ अजयराज पाटणी, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर-गुटका नं० १५८, वेष्टन नं० १२७५
३६ सहिरी ए! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नहीं घरे।
सहि एरी! मन उदधि अनन्दा सुख-कन्दा चन्दा देह धरे।
चन्द जिवां मेरा बल्लभ सोहे, नैन चकोरहिं सुक्ख करे।
जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, बहु दुख तिमिर वितान हरे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग का लांछन कहिये।
श्री शांति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहिये।

—बनारसी विलास, श्री शांति जिन स्तुति, पद्य १, पृ० १८६

३७ मेरा मन का प्यारा जो मिलै। मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥१॥
उपज्यो कंत मिलन को चाव। समता सखी सों कहै इस भाव ॥२॥
मैं विरहिन पिय के आधीन। यों तलफों ज्यों जल बिन मीन ॥३॥
बाहिर देखूं तो पिय दूर। बट देखे घट में भरपूर ॥४॥
होहुँ मगन मैं दरशन पाय। ज्यों दरिया में बूंद समाय ॥६॥
पिय को मिलों अपनपो खोय। ओला गल पाणी ज्यों होय ॥१०॥

—बनारसी विलास, अध्यातम गीत १-१०, पृ० १५८-१६०

३८ वही, अध्यातम गीत १८-२६, पृ० १६१-१६२

४१ एक ही जाति है। प्रिय उसके घट में विराजमान है और वह प्रिय में। दोनों का जल और लहरों के समान अभिन्न सम्बन्ध है। प्रिय कर्ता है और वह करतूति, प्रिय सुख का सागर है और वह सुख-सींव है। यदि प्रिय शिव मन्दिर है तो वह शिवनींव, प्रिय ब्रह्मा है तो वह सरस्वती, प्रिय माधव है तो वह कमला, प्रिय शंकर है जो वह भवानी, प्रिय जिनेन्द्र हैं तो वह उनकी वाणी है। इस प्रकार जहाँ प्रिय है वहाँ वह भी प्रिय के साथ में है। दोनों उसी प्रकार से है "ज्यों शशि हरि में ज्योति अभंग" है।

३९ बनारसी विलास, अध्यातम पद पंक्ति १०, पृ० २२८-२९

४० बनारसी विलास

४१ हिन्दी पद संग्रह, पृ० ३-५

४२ हिन्दी पद संग्रह, पृ० १६; जिनहर्ष का नेमि-राजीमती बारहमास सवैया १, जैन गुर्जर कविओं, खंड २, भाग ३, पृ० ११८०; विनोदीलाल का नेमि-राजुल बारहमासा, बारहमासा संग्रह, जैन पुस्तक भवन कलकत्ता, तुलनार्थ देखिये।

४३ नेमिनाथ के पद, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० १५७; लक्ष्मीबल्लभ का भी वियोग वर्णन देखिये जहाँ साधक की परमात्मा के प्रति दाम्पत्यमूलक रति दिखाई देती है, वही, नेमिराजुल बारहमासा, १४; पृ० ३०६

४४ भूधर विलास १३, पृ० ८

४५ वही, ४५, पृ० २५

४६ पंच सहेली गीत, लूणकरजी पाण्डया मन्दिर, जयपुर के गुटका नं० १४४ में अंकित हैं;

—हि० जैन भक्ति काव्य और कवि पृ० १०१-१०३

४७ ब्रह्म विलास, शत अष्टोत्तरी, २७वाँ पद्य, पृ० १४

४८ आनन्दघन बहोत्तरी, ३२-४१

४९ पिया बिन सुधि-बुधि मूंदी हो।
विरह भुवंग निसा समै, मेरी सेजड़ी खूंदी है।
भोयनपान कथा मिटी, किसकूं कहुँ सुद्धी हो ॥ —वही, ६२

५० आनन्दघन बहोत्तरी, ३२

५१ वही, २०

५२ शिव-रमणी विवाह, १६—अजयराज पाटणी, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर गुटका नं० १५८, वेष्टन नं० १२७५

५३ श्री चूनरी, इसकी हस्तलिखित प्रति मंगोरा (मथुरा) निवासी पं० बल्लभराम जी के पास सुरक्षित है; अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० ९०

५४ विषम विरण पूरो भयो हो, आयो सहज वसन्त।
प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमंत ॥
अध्यातम बिन क्यों पाइये हो ॥२॥
सुमति कोकिला गहगही हो बही अपूरब वाउ।
भरम कुहर बादर फटे हो, घट जाड़ो जड़ ताउ ॥अध्यातम०॥३॥
मायारजनी लघु भई हो, समरस दिवशशि जीत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह पंक की थिति घटी हो, संशय शिशिर व्यतीत ॥अध्यातम०॥४॥
शुभ दल पल्लव लहलहे हो, होहिं अशुभ पतझार।
मलिन विषय रति मालती हो, विरति बेलि विस्तार ॥अध्यातम०॥५॥
शशि विवेक निर्मल भयो हो, थिरता अमिय झकोर।
फैली शक्ति सुचन्द्रिका हो, प्रमुदित नैन-चकोर ॥अध्यातम०॥६॥
सुरति अग्नि ज्वाला जगी हो, समकित भानु अमन्द।
हृदयकमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजश मकरन्द ॥अध्यातम०॥७॥
दिढ कषाय हिमगिर गले हो, नदी निर्जरा जोर।
धार धारणा बह चली हो, शिवसागर मुख ओर ॥अध्यातम०॥८॥
वितथ वात प्रभुता मिटी हो, जग्यो जथारथ काज।
जंगल भूमि सुहावनी हो, नृप वसन्त के राज ॥अध्यातम०॥६॥

—बनारसी विलास, अध्यातम-फाग, २-६, पृ० १५४

५५ गो सुवर्ण दासी भवन, गज तुरंगे परधान।
कुल कलत्र तिल भूमि रथ, ये पुनीत दशदान ॥ —वही, दसदान, १, पृ० १७७

५६ वही, अध्यातम फाग, १८, पृ० १५५-१५६
महावीर जी अतिशय क्षेत्र का एक प्राचीन गुटका, साइज ८×६, पृ० १६०; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० १५६

५७ अक्षर ब्रह्म खेल अति नीको खेलत ही हुलसावै ॥ —हिन्दी पद संग्रह, पृ० ६२

५८ आयो सहज बसन्त खेलैं सब होरी होरा ॥
उत बुधि दया छिमा बहुठाढी,
इत जिय रतन सजे गुन जोरा।
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं,
अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुराग गुलाल उड़त है,
समता रंग दुहूनें घोरा ॥आयो०॥२॥
परसन उत्तर भरि पिचकारी,
छोरत दोनों करि करि जोरा।
इततैं कहैं नारि तुम काकी,
उततैं कहैं कौन को छोरा ॥३॥
आठ काठ अनुभव पावक में,
जल बुझ शांत भई सब ओरा।
द्यानत शिव आनन्द चन्द छबि,
देखैं सज्जन नैन चकोरा ॥४॥ —हिन्दी पद संग्रह, पृ० ११६

५६ हिन्दी पद संग्रह, पृ० १२१
६० वही, पृ० १४६
६१ हिन्दी पद संग्रह, पृ० १५८
६२ इह विधि खेलिये होरी हो चतुर नर।
निज परनति संगि लेहु सुहागिन,
अरु फुनि सुमति किसोरी हो ॥१॥
ग्यान मइ जल सौ भरि भरि कै,
सबद पिचरिका छोरी।
क्रोध मान अबीर उड़ावो,
राग गुलाल की झोरी हो ॥३॥ —हिन्दी पद संग्रह, पृ० १७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६३ वही, पृ० १७६
६४ छार कषाय त्यागी या गहि लै समकित केशर घोरी।
मिथ्या पत्थर डारि धारि लै, निज गुलाल की झोरी॥ —'बुधजन विलास' ४०
६५ वही, ५१ ६६ वही, पृ० ४६
६७ मेरो मन ऐसी खेलत होरी।
मन मिरदंग साजकरि त्यारी, तन को तमूरा बनोरी।
सुमति सुरंग सारंगी बजाई, ताल दोउ करजोरी।
राग पांचौ पद को री। मेरो मन ॥१॥
समवृति रूप नीर भर झारी, करुना केशर घोरी।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ कर माँहि सम्होरी।
इन्द्री पांचों सखि बोरी। मेरो मन ॥२॥
चतुरदान को है गुलाल सो, भरि भरि मूठि चलोरी।
तप मेवा की भरि निज झोरी, यश की अबीर उड़ोरी।
रंग जिनधाम मचोरी। मेरो मन ॥३॥
दौलत बाल खेलें अस होरी, भवभव दुःख टलोरी।
शरना ले इक श्रीजन को री, जग में लाज हो तोरी।
मिलै फगुआ शिव होरी। मेरो मन ॥४॥ —दौलत जैन पद संग्रह, पृ० २६
६८ वही, पृ० २६

पुष्कर संस्मरण

आदमी बनो

विहार करते-करते हम एक छोटे से गाँव में पहुँचे और गुरुदेवश्री स्वयं भिक्षार्थ गये। एक घर में आप जा रहे थे कि एक आदमी ने टोका—यहाँ कोई आदमी नहीं है भीतर कहाँ जाते हो?

इसीलिए तो जा रहा हूँ भाई, हमारा तो काम ही है जानवरों को आदमी बनाना और आदमी को देवता बना देना।

टोकने वाले ने गुरुदेव की आँखों में झाँककर देखा, बाबा तो राजयोगी मालूम पड़ता है, बड़ा तेजस्वी है। बोला—अच्छा-अच्छा जाओ। रोटी ले आओ।

आपश्री ने कहा—नहीं, अब तो पहले तुम मेरा उपदेश सुनकर आदमी बनो, फिर ही रोटी लूँगा....और आपने सचमुच ही उसे उपदेश सुनाकर आदमी ही क्या, भक्त बना लिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org